



ISSN Print: 2394-7500
 ISSN Online: 2394-5869
 Impact Factor: 8.4
 IJAR 2023; 9(4): 231-235
www.allresearchjournal.com
 Received: 12-03-2023
 Accepted: 19-04-2023

डॉ. शंकर शर्मा

सहायक आचार्य, चित्रकला
 विभाग, से.म.बि राजकीय
 स्नातकोत्तर महाविद्यालय,
 नाथद्वारा, राजस्थान, भारत

कला की सामाजिक व दार्शनिक पृष्ठभूमि (सौन्दर्य व प्रतीकात्मकता के सन्दर्भ में)

डॉ. शंकर शर्मा

DOI: <https://doi.org/10.22271/allresearch.2023.v9.i4c.11284>

सारांश

पूर्वी तथा पश्चिमी देशों में प्रतीकों का निर्माण नैतिकता की आकांक्षा तथा धार्मिक पृष्ठभूमि में मानवीय भावनाओं तथा सामाजिक अनुभवों को एक ऐसे साँचे में ढालकर किया गया है, जहाँ ये प्राकृत तथा अतिप्राकृत के समन्वय से अतिश्रेष्ठ स्थिति तक पहुँच जाते हैं। जहाँ एक ओर ये प्रतीक नैतिक दृष्टिकोण लिये रहते हैं वहीं दार्शनिक भी, क्योंकि इन्हें प्रज्ञाचक्षुओं की बुद्धि तथा सामान्य आकांक्षाओं एवं अनुभवों के संयोग से विकसित किया गया है। प्रतीकों के इस व्यापक-प्रसार व इनकी उपयोगिता को देखते हुए यहाँ यह कहना अनुचित नहीं होगा कि विभिन्न सांस्कृतिक क्षेत्रों में यदि मनुष्य के पास प्रतीक-सृजन व उनके अर्थग्रहण की शक्ति नहीं होती तो संभवतः मानव-संस्कृति आज अविकसित रह गई होती।

कूटशब्द : मनोमय – मन से युक्त, मानसिक, उन्मेष – प्रकट होना।, अपसरण – पीछे हटना, भागना, उभयपक्षी – दोनों ओर अथवा दो दिशाओं में गति की प्रवृत्ति रखने वाला।

प्रस्तावना

भारत में कला की मुख्य धारणा सौन्दर्य की धारणा पर आधृत रही है। यहाँ कला और सौन्दर्य का नित्य सहचर सम्बन्ध रहा है, एवं सभी प्रमुख भारतीय विद्वानों ने भी इन्हें एक रूप मानते हुए ही इनकी व्याख्या की है, क्योंकि इनके अनुसार कला और सौन्दर्य का एक दूसरे के बिना कोई अस्तित्व ही नहीं है।¹ यहाँ मुख्य रूप से कला का ध्येय सौन्दर्य-सृजन, रसानुभूति अथवा आनन्दानुभूति ही माना गया है, जिसकी पुष्टि स्वयं 'कला' शब्द करता है, क्योंकि इस शब्द कि उत्पत्ति 'कल' धातु से हुई है। जिसका अर्थ आनन्दित करने से होता है। इसी अर्थ में कला को परिभाषित करते हुए विद्वानों ने भी कहा है – "कं आनन्दं लाति इति कला"²

भारतीय विचारधारा के अनुसार जहाँ एक उत्कृष्ट कलाकृति सांस्कृतिक मूल्यों का निर्धारण करती हुई मानवता तथा मार्मिकता के गुणों को लिये भावात्मकता का प्रत्यक्षीकरण करती है वहीं परमब्रह्म के निराकार स्वरूप की अनुभूति सौन्दर्य के रूप में कराती है, जो हृदय को परिष्कृत, पवित्र, कोमल व दयालु बनाता है।

इस स्थिति में कलाकृति अपने गुण के प्रभाव से दर्शक के लिये नवीन सृष्टि का रूप प्रस्तुत करती है। इसमें जहाँ एक ओर चराचर की अपूर्णता को पूर्ण करने का प्रयास होता है, वहीं दूसरी ओर मनुष्य के अहम् के भाव को परिष्कृत कर उसे निर्वाण की ओर उन्मुख किया जाता है। अस्तु: कला व सौन्दर्य की जितनी सम्पृक्तता आध्यात्म से रहती है, उतनी ही भौतिक जगत से भी और संभवतया इनके भौतिक अस्तित्व को मानने के बाद ही इनकी पारमार्थिकता जानी जा सकती है।

कलात्मक सौन्दर्य के इसी भौतिक स्वरूप को पाश्चात्य व भारतीय विद्वानों ने अपनी तर्कबुद्धि तथा भावुक हृदय के आधार पर विश्लेषित करने का प्रयास किया है। प्रसिद्ध दार्शनिक प्लटो के अनुसार जहाँ सौन्दर्यजन्य दिव्य-दृष्टि ही मनुष्य को लौकिकता से ऊपर उठाकर सर्वसौहार्द व सर्वहिताय के भावों से युक्त करती है³ तो प्लोटीनस कहते हैं कि परमेश्वर का मंगलमय स्वरूप ही सौन्दर्य है, जिसको प्राप्त कर लेने से समस्त संसार सौन्दर्यपूर्ण हो जाता है।⁴ इसी प्रकार टालस्टॉय भी लौकिक व सामाजिक धरातल पर इसकी व्याख्या करते हुए इसे समाज में धर्मबुद्धि के अनुष्ठान कारक तथा नैतिक अभ्युत्थान की भावना का स्थापन करने वाला मानते हैं।⁵

इसी प्रकार काण्ट तथा हिगेल आदि आधुनिक विचारक भी सौन्दर्य की जीवन के प्रति सार्थकता के परिपेक्ष्य में ही उसके मूल्यों को निहित मानकर उसे 'सत्यम् शिवम्, सुन्दरम्' का प्रतिरूप मानत पाश्चात्य की तरह भारतीय विद्वानों ने भी सौन्दर्य की इसी सामाजिक तथा लौकिक अवधारणा को पुष्ट किया है,

Corresponding Author:

डॉ. शंकर शर्मा

सहायक आचार्य, चित्रकला
 विभाग, से.म.बि राजकीय
 स्नातकोत्तर महाविद्यालय,
 नाथद्वारा, राजस्थान, भारत

इसे धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष से सम्बन्धित करके, जिसके अनुसार यह जीवन मूल्यों से पोषण प्राप्त करता है और फिर बदले में उन्हें सरस व समृद्ध बना देता है। यहाँ विद्वानों ने भौतिक रूप से इसकी व्याख्या करते हुए इसे पंचइन्द्रियों से सम्बद्ध किया है। उनके अनुसार पंचेन्द्रियों से प्राप्त सौन्दर्यानुभूति से मन में अनेक भाव तरल अवस्था को प्राप्त होते हैं तथा सौन्दर्य के सम्पर्क में आने से मनोमय कोश में बुद्धि— चक्र सक्रिय होता है और प्राप्त सद्विचार, सत्कल्पनाओं और सदभावनाओं से सौन्दर्य का सुस्वाद प्रेक्षक को एक श्रेष्ठ सामाजिक जीव बना देता है।⁶ इसी प्रकार सौन्दर्य स्रष्टा कलाकार भी इससे प्राप्त रस बोध व तत्त्व — बोध के सहारे दार्शनिक के समान उच्च बन जाता है, जैसा कि गेरोला जी कहते हैं दार्शनिक सौन्दर्य—मण्डित सत्य को उपलब्ध कराना चाहता है, जबकि कलाकार या कवि केवल सौन्दर्य का पुजारी होता है, कल्पना और अनुभूतियाँ दोनों ही उसका सत्य है। किन्तु कलाकार का सौन्दर्य — बोध, दर्शनिक की उपलब्धि की अपेक्षा कुछ कम महत्त्व नहीं रखता। इसी के द्वारा वह इस बोध और तत्त्व बोध दोनों को प्राप्त करता है।⁷

कला सौन्दर्य साधना है, इस सौन्दर्य में एक अनूठी आकर्षण शक्ति निहित होती है, जिसकी और मन का सहज रुझान होता है। यहीं कारण है कि इसके प्रति दार्शनिकों का भी एक आकर्षण रहा है और यह सदियों से दार्शनिक चिंतन का विषय बना रहा है।

पश्चिम में प्रारम्भ से ही विद्वानों द्वारा सौन्दर्य—विषयक विविध व्याख्याएँ की जाती रही हैं। क्योंकि पश्चिम में सौन्दर्य शास्त्र को दर्शन के एक अंग के रूप में स्वीकार किया गया है। अतः वहाँ दार्शनिक चिंतन के अन्तर्गत सौन्दर्य चिन्तन की परम्परा आरम्भ से ही रही यहाँ सर्वप्रथम प्लेटो ने तत्त्व—चिंतन की परिधि में सौन्दर्य का विवेचन किया। परन्तु भारतीय दर्शन का स्वरूप किंचित भिन्नता लिये हुए रहा है व ब्रह्म, जीव, जगत, माया, मोक्ष आदि ही इसके प्रतिपाद्य विषय रहे हैं, सौन्दर्य नहीं, और यदि इसका अध्ययन किया भी गया है तो इन्हीं विषयों में परमब्रह्म की अनुभूति की अवस्था स्वरूप प्राप्त रसानुभूति के रूप में।

पश्चिमी दार्शनिकों ने सौन्दर्य पर चिंतन करते हुए इसके दो रूपों—विषयगत तथा विषयीगत की चर्चा की है। इनमें सौन्दर्य को विषयगत मानने वाले विद्वानों ने इसे भौतिक जगत से परे किसी आध्यात्मिक जगत की वस्तु नहीं माना है। क्योंकि उनके अनुसार यह भौतिक वस्तुओं में ही व्याप्त होता है। पश्चिम में ग्रीक युग के दार्शनिकों ने सौन्दर्य को बाह्य या विषयगत मानकर इसके प्राकृतिक गुणों को प्रदर्शित किया एवं यहाँ की शास्त्रीय कला में भी देवी—देवताओं को आदर्श रूप प्रदान कर ही सौन्दर्य सृजन किया गया, जिसमें ईश्वर की कल्पना सर्वश्रेष्ठ मानव के रूप में कर आध्यात्मिकता को भौतिक पूर्णता में पाने का प्रयास दिखाई देता है। इस समय की कला में आकारक सुबद्धता को ही अत्यधिक महत्त्व दिया गया और ग्रीक युगीन सभी कला समीक्षकों व दार्शनिकों ने भी भौतिक पक्षों को ही कला के आवश्यक गुण मानते हुए उनकी व्याख्या की। तत्पश्चात् मध्ययुग में दर्शनिकों ने इस मत के प्रति नकारात्मक दृष्टीकोण अपनाया। परन्तु पुनरुत्थान युग में पुनः कुछ विद्वानों ने इसी विचार को प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया। इस दृष्टि से प्रेरित पश्चिमी दार्शनिकों में प्लेटो, अरस्तु, ह्युम, लॉसिंग, तथा वर्क प्रमुख हैं जिनकी सौन्दर्य के प्रति विषयगत मान्यताएँ इस प्रकार हैं —

प्लेटो: प्रसिद्ध पश्चिमी दार्शनिक प्लेटो सौन्दर्य को विषयगत मानते हैं उनके अनुसार सौन्दर्य (समता) में है।⁸

अरस्तु: इनके अनुसार “सौन्दर्य के प्रमुख अंग क्रमबद्धता, समता और औचित्य है।”⁹

ह्युम: अंगों की सुगठित रचना को ही सौन्दर्य मानते हैं जो हमारी संस्कार — जन्य आत्मा को सुख और शांति प्रदान कर सके।¹⁰

लॉसिंग: इनके अनुसार सामंजस्य या सुडौलपन, क्रम, विभिन्नता, अनुपात, सौन्दर्य निर्माण के आवश्यक लक्षण हैं।¹¹

वर्क: इनका मानना है कि “आकारीय सूक्ष्मता, कोमलता, वर्णदीप्तता तथा शुद्धता द्वारा ही सौन्दर्य प्रदर्शित किया जा सकता है।”¹²

इन दार्शनिकों के विपरीत प्लोटीनस, शैफ्ट्सबरी, बामगार्टन, शेलिंग, काण्ट हीगेल, क्रॉचे आदि अन्य पश्चिमी विचारक सौन्दर्य को पूर्णतः मानसिक व आध्यात्मिक जगत की वस्तु मानते हुए उसे विषयीगत मानते हैं और प्राचीन युग के विपरीत आधुनिक युग में सौन्दर्य की यही विषयीगत विचारधारा अधिक प्रबल भी रही, जो यूरोप के आधुनिक दर्शन से आरम्भ होकर क्रॉचे के अनुभूतिवाद के रूप में पल्लवित हुई। उपरोक्त प्रमुख दर्शनिकों द्वारा दी गई सौन्दर्य की विषयीगत परिभाषाएँ इस प्रकार हैं —

प्लोटीनस: इनका मानना था कि “सौन्दर्य भौतिक पदार्थों में नहीं होता, यह शाश्वत भावों में होता है, जो भौतिक पदार्थ के माध्यम से प्रतिबिम्बित होता है उसके दर्शन बाहरी नेत्रों से नहीं होते, उसके लिये आन्तरिक नेत्र चाहिए।”¹³

बामगार्टन: बामगार्टन ने सौन्दर्य को ज्ञान के विषय के रूप में प्रतिष्ठित किया है, उनके अनुसार “ऐन्द्रीय माध्यम से पूर्णत्व की अनुभूति सौन्दर्य है।”¹⁴

शेलिंग: इनके अनुसार “दैवीय वास्तविकता का मानवीय माध्यम से प्रकटन ही सौन्दर्य है।”¹⁵

काण्ट: यह सौन्दर्य के भौतिक अस्तित्व को अस्वीकार करते हैं। इनके अनुसार “इसकी अनुभूति वास्तविक जगत की वस्तुओं से परे की वस्तु है और यह किसी वस्तु में निहित नहीं होता, मनुष्य के मन में होता है।”¹⁶

हीगेल: इनके अनुसार “सौन्दर्य इन्द्रिय—जनित प्रत्यय (भाव) है।”¹⁷

क्रॉचे: यह सफल “अभिव्यंजना” को ही सौन्दर्य मानते हैं।¹⁸ समीक्षात्मक दृष्टि से देखा जाए तो सौन्दर्य सम्बन्धी दोनों ही विचारधाराएँ एकांगी प्रतीत होती हैं। क्योंकि जहाँ विषयगत विचारधारा वाले दार्शनिक मात्र वस्तु में ही सौन्दर्य को निहित मानकर उसके अनुभावन व सृजन में चेतना की सक्रियता और सृजनात्मकता के मूल्य का तिरस्कार करते हैं तो दूसरी ओर विषयीगत विचारधारा वाले दार्शनिक आन्तरिक सौन्दर्यवादी अनुभूति द्वारा प्रत्येक वस्तु में सौन्दर्य का अनुभव सम्भव बनाते हुए सुन्दर—असुन्दर का भेद ही खत्म कर देते हैं। अतः दोनों ही दृष्टियों से किया गया विवेचन संतोषप्रद नहीं दिखाई देता लेकिन यदि दोनों विचारधाराओं को समन्वित रूप से देखा जाए तो हमें अधिक पुष्ट विचारधारा दिखाई देती है, जिसमें सौन्दर्य विषयगत व विषयीगत न होकर उभयपक्षीय होता है। एवं सौन्दर्यानुभूति में भौतिक, वस्तुगत सौन्दर्य के साथ—साथ आध्यात्मिकता का भी आन्तरिक उद्बोधन होता है अथवा चेतना की प्रत्यक्ष अनुभूति भी होती है।

भारतीय दर्शन में सौन्दर्य को आध्यात्मिक दृष्टि से ही देखा गया है। यहाँ विद्वानों की प्रायः यह मान्यता रही है कि सौन्दर्य का बोध होने पर उसके माध्यम से जगतनियन्ता के प्रति आस्थावान होने का सुयोग अवसर प्राप्त होता है। इसके अनुसार सौन्दर्य

वही है जो सत्यम् शिवम् सुन्दरम् की कसौटी पर खरा उतरे। यद्यपि यहाँ सौन्दर्य को अलग से विषय मानकर दार्शनिक विचार प्रस्तुत नहीं किये गए हैं पर इससे सम्बन्धित अनेक सामग्री प्राचीन ग्रंथों में अवश्य बिखरी दिखाई देती है, जिसमें वस्तुगत और आत्मगत दोनों ही पक्षों को सौन्दर्य बोध का आधार माना गया है तथा इनके समन्वित रूप को ही मान्यता दी गई है और पूर्ण रूप में उसे एक आलौकिक अनुभूति के रूप में जाना गया है, जो की भारतीय मनीषियों के निम्न विचारों से स्पष्ट है उनके अनुसार "मनुष्य के अचेतन मन में सौन्दर्य की कामना रहती है। फलतः चेतनमन सौन्दर्य का अवगाहन करता है व अंतिम परिणाम के रूप में लोकोत्तर सौन्दर्यानुभूति उद्बोधित होती है। अस्तु, रूप लौकिक हो या धार्मिक भावनाओं से उत्प्रेरित देवीय हो, उसे सौन्दर्यानुभूति अचेतन मन द्वारा सौन्दर्य अवगाहन को उद्बोधित कर अलौकिक बना देती है।"¹⁹

पश्चिमी दार्शनिकों की तरह भारतीय रस सिद्धान्त के आचार्यों में भी रस अथवा सौन्दर्य सम्बन्धी विचारधारा वाले दो वर्ग दिखाई देते हैं। प्रथम वर्ग में आचार्य भट्टनायक व उनका भुक्तिवाद तथा आचार्य भट्ट लोल्लट व उनका उत्पत्तिवाद आता है जो रस (सौन्दर्य) की विषयीगत व्याख्या करता है। दूसरे वर्ग में आचार्य शंकुक व उनका अनुभूतिवाद आता है जो रस (सौन्दर्य) के विषयगत पक्ष को महत्त्व देता है। लेकिन दोनों ही विचारधाराओं से अधिक पुष्ट विचारधारा अभिनवगुप्त की प्रतीत होती है, जो यद्यपि रसरूप सौन्दर्य की स्थिति विषयी में मानते हैं तथापि दोनों ही विचारधाराओं के समन्वित दृष्टिकोण को ही मान्यता देते हैं। इस प्रकार देखा जाए तो सौन्दर्य सम्बन्धी सभी विचारधाराओं में सर्वाधिक विकसित विचारधारा रस- सिद्धान्त की रही है क्योंकि यहाँ सौन्दर्य को विषयीगत मानते हुए भी वस्तु की अवहेलना नहीं की गई है। इस सिद्धान्तानुसार सौन्दर्य का सच्चा स्वरूप आन्तरिक व ब्राह्म तथा विषयी तथा विषय के सामंजस्य पर ही निहित है, जैसा कि बिहारी जी कहते हैं "रूपरिज्ञानवहार वह, ये नैना रिज्ञावर।"²⁰ अर्थात् रीझने वाले नयनों के आगे रिज्ञाने वाला रूप ही होना चाहिये। अस्तु, सौन्दर्य की अनुभूति कलात्मक रचना के कारण होती है, जिसमें दर्शक या प्रमाता की एकाग्रचित्त क्षमता का भी पर्याप्त योग रहता है जो उसके उदार दृष्टिकोण का परिचायक होता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि सौन्दर्य न विषयगत है न विषयीगत, वरन् यह "सौन्दर्य" सुषम अथवा संगठित पदार्थ की वह आभा है, जो द्रष्टा को सहसा अभिभूत कर लेती है। यह अनुभव व्यक्ति का आत्मविश्रमण है जिसे न तो आनन्द की तात्त्विक स्थिति कहा जा सकता है, न ही उससे सर्वदा अपसरण ही।²¹

जिस सौन्दर्य की विवेचना अभी तक की गई वही सौन्दर्य अपने मूर्तरूप में एक, कलाकृति है जो एक और तो कलाकार के स्तर पर भावप्रेरित कल्पना की रूपायिनी होती है तो दूसरी और दर्शक अथवा प्रमाता के स्तर पर एक अनुभूति जहाँ कलाकार की सृजनात्मक अनुभूति कृति के रूप में होती है वहीं पुनः प्रमाता या दर्शक की कलात्मक अनुभूति के रूप में विगलित हो जाती है इस प्रकार कलाकृति की रचना प्रक्रिया अनुभूति से प्रारम्भ होकर अनुभूति पर ही समाप्त हो जाती है। इस प्रक्रिया में केन्द्र में रहती है अनुभूति जो कि अनु-भाविता मन के साथ प्रत्यक्ष रूप से जुड़ी होती है। यह मन जो की एक इच्छा है, काम है, रस और आनन्द है, और सृजन की ऊर्जा है। उसे मूल संहिताओं, उपनिषदों और ब्राह्मणों में भी विशद किया गया है। जैसे यजुर्वेद में यजुर्वेद का शिव संकल्प सूक्त :- तन्मं मनः शिव संकल्पमस्तु (मैंरा मन शुभ- शिव संकल्प करने वाला बन) मन के स्वरूप व शक्ति को मान्यता देता है। जब कभी कलाकार इस मन रूपी सृजक ऊर्जा से प्रेरित होकर 'कृतित्व' का अनुभव करता है अर्थात् चेतना के उन्मेष से संसार को देखता है तो वह प्रकृति के प्रति भी काव्यायितकरण को देखता है। अर्थात् यथार्थ से परे एक संगीतयुक्त काव्यमयी सृष्टि का दर्शन करता है तब उसके

अन्तःकरण से उपमाएँ, बिम्ब, प्रतीक, मिथक, रूपक, लय, छंद, ताल स्वतः उमड़कर बह उठते हैं²² और जन्म होता है एक ऐसी कृति का जो अनुभवगम्य होने पर भी अनुभूति मात्र नहीं होती और आस्वादन का विषय होने पर भी मूर्त नहीं होती, वरन् एक ऐसी सौन्दर्यात्मक रचना होती है जो यथार्थ से परे मन की गहराईयों में उपजे बिम्बों प्रतीकों मिथकों के साथ कल्पना के अद्भूत समन्वय से रचित एक नयी काव्यात्मक सृष्टि का दर्शन कराती है। इस नई काव्यात्मक सृष्टि या कलाकृति के निर्माण में बिम्ब, मिथक व कल्पना के साथ प्रतीक महत्त्वपूर्ण योगदान देते हैं। इन्हीं प्रतीकों के महत्त्व को सौन्दर्य तथा कला की दृष्टि से स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि जिस लक्ष्य की लब्धि के लिये धर्म स्तवन और ध्यान का विधान करता है उसी की प्राप्ति कलाकार प्रतीकवाद के अनुसार कलात्मक शिल्प से करता है।²³ कला में अनुकरण दृष्टि-सुख मात्र वस्तु के बाहरी भौतिक स्वरूप को ही व्याख्या करता है, जिससे दृष्टि-सुख तो प्राप्त हो जाता है पर आंतरिक स्थायित्व कायम नहीं किया जा सकता। अतः कला में सौन्दर्य - बोध के लिये न सिर्फ रेखाओं की स्पष्टता तथा रंगों का बाह्य अपेक्ष्य है, बल्कि प्रतीकों का साहचर्य भी आवश्यक है, जो कला को विवरण मुक्त कर सौन्दर्य सृजन में महत्त्वपूर्ण योगदान देते हैं। इन प्रतीकों का मानव की सभ्यता तथा संस्कृति के विकास में सदैव महत्त्व रहा है। मानवीय सभ्यता का ऐसा कोई काल नहीं है, जब मानव ने अपने विकास के लिये प्रतीकों को न चुना है। व्यक्ति चाहे आस्तिक हो या नास्तिक, सभ्यता चाहे आधुनिक हो या पुरातन, सभी ने किसी न किसी रूप में प्रतीकों का प्रयोग किया है।

जीवन के सभी सन्दर्भों को, चाहे वे कलात्मक हों या धार्मिक अथवा नैतिक, प्रतीकों ने अपना विषय बनाया है। इनका जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में यथा : भाषा, साहित्य, कला, धर्म, दर्शन में पर्याप्त हस्तक्षेप रहा है। प्रतीकात्मक प्रस्तुतीकरण का जो सिलसिला आदि मानव द्वारा उच्चरीत प्रथम शब्द के साथ प्रारम्भ हुआ वह आज तक विभिन्न युगों तथा विभिन्न सभ्यताओं में अपनी निरन्तरता के साथ गतिमान रहा। विशेषकर कलाओं में, जहाँ चाहे पश्चिमी कला हो या पूर्वी सभी में कलाकारों ने अपने गूढ़ भावों की सहज व सफल अभिव्यक्ति के लिये प्रतीकों का आश्रय लिया है। चूँकी कला प्रतीकों का क्षेत्र इतना व्यापक है कि उनकी पूर्ण व्याख्या करना यहाँ सम्भव नहीं है, और न ही शोध विषय की दृष्टि से उपयुक्त ही है, अतः पश्चिम तथा पूर्वी कलाओं के प्रतीकों कि संक्षिप्त विवेचना ही यहाँ की जा रही है। जिससे कि उनके व्यापक प्रसार व विविध स्वरूपों को स्पष्ट किया जा सके।

पश्चिमी कला में प्रतीकः

पश्चिमी कला में प्रतीकों को सामाजिक व दार्शनिक पृष्ठ भूमि में यदि अनुशीलन किया जाए तो स्पष्ट होता है कि पश्चिमी कला-विचारों का प्रारम्भिक स्वरूप मिश्र के विचारों पर निर्धारित हुआ था, जहाँ सर्वप्रथम धर्म एवं गूढाक्षर लिपि के द्वारा विश्व के द्विविध रूप (जड, चेतन, प्राकृतिक, सांस्कृतिक) को व्यक्त किया गया। इन्हीं के आधार पर पश्चिम की कला में आरम्भिक जटिल व महत्त्वपूर्ण प्रतीकों का प्रचलन आरम्भ हुआ जो कि पूर्वी सभ्यताओं के प्रसार स्वरूप ही मिश्र होते हुए यूरोप में पहुँचे थे। फादर हैरास के अनुसार भारत में सौर-मण्डल की खोज से मूलग्रह व सम्बन्धित अन्य ग्रहों के आधार पर देव-प्रतीकों की अवधारणा अस्तित्व में आयी, जो 6वीं शताब्दी ईसा पूर्व के आस-पास तक 'ज्योतिर्विज्ञान' के रूप में स्थिर हो भारत से मिश्र, चाल्डिया, सीरीया तथा फिनलैण्ड होती हुई यूरोप पहुँची थी। इसी आरम्भिक अवधारणा के आधार पर देव-प्रतीकों की सृष्टि के साथ ही विश्व के नियामक नैतिक सिद्धान्तों, प्राकृतिक नियमों एवं द्वितत्त्ववाद की भी प्रतिष्ठा हुई और पौराणिक कल्पनाओं के आधार पर अनगिनत देवीय स्वरूपों की सृष्टि हुई, जो प्रकृति की

शक्तियों पर नियंत्रण के प्रतीक थे। जैसे हरक्युलीज, जेसन आदि देवता।²⁴

ये देव प्रतीक पश्चिमी शास्त्रीय युग की कला तक अपने इन्हीं स्वरूपों को लिये रहे। तत्पश्चात् ईसाई विचारधारा का प्रस्फुटन हुआ और इन्हीं प्रतीकों को ईसाई भावना से सम्बद्ध कर दिया गया, जैसे ईसा के पुनर्जीवन होने की घटना के पीछे ऋतु-चक्र का सिद्धान्त ही मूल में रहा जो प्रारम्भिक देव-प्रतीकों व राशि-प्रतीकों की अवधारणा से ही सम्बन्धित है। मध्यकालीन ईसाई कला के भी अधिकांश प्रतीक इसी प्रकार निर्मित हुए। जिनके मूल में स्थानीय प्राचीन विश्वास और तत्सम्बन्धी प्रतीक रहे जिन्हें ईसाई धर्म में किञ्चित् परिवर्तन के साथ ग्रहण किया गया। प्रसिद्ध दार्शनिक युग के अनुसार इन विश्वासों एवं प्रतीकों के मध्य तर्कपूर्ण सम्बन्ध नहीं है। अपितु एक गुप्त साध्य है जो आदिम प्राणीवादी विचारधारा पर आश्रित है।²⁵

पुनरुत्थानकालीन यूरोपियन कला में भी प्रतीकों के प्रति यथेष्ट अभिरुचि प्रदर्शित की गई, किन्तु मध्यकाल की अपेक्षा अधिक व्यक्तिगत सुसंस्कृत व साहित्यिक रूप में इस समय के साहित्य व कला में प्रतीकवाद का अत्यधिक प्रभाव रहा। चूंकि प्रतीकवाद की प्रवृत्ति संघटनात्मक होती है विघटनात्मक नहीं, इसी से अन्तर्देशीय प्रभाव प्रतीकवाद की दृष्टि से कोई क्षेत्रीयता लिये नहीं दिखते। यही कारण है कि इस समय पूर्वी प्रभावों से प्रेरित मिश्री प्रतीकवाद को समझने और उसके आधार पर कला-सृजन करने का प्रयत्न यूरोप में हुआ, जिसका उदाहरण तत्कालीन प्रसिद्ध कवि दांते की काव्य रचनाएँ हैं, जिसमें पूर्वी प्रतीकों का आश्रय लिया गया है। साथ ही इस समय की चित्रकला में भी प्रतीकों का प्रयोग हुआ, जो बोतिचौल्ली, मॅण्टेग्ना, बैल्लिनी तथा लियानार्डो के चित्रों से स्पष्ट होता है। इसके पश्चात् सोहलवी तथा सत्रहवीं शताब्दी में प्रतीक रूपको में परिवर्तित हो गए और प्रतीकों में छिपी एकता की भावना नष्ट हो गई, तथापि इनका प्रयोग कलाओं में कहीं-2 होता रहा।²⁶

आधुनिक युग में भी यूरोपीय कला में प्रतीकों ने अपनी निरन्तरता बनाए रखी। जर्मन स्वच्छंदतावाद, स्वप्न तथा अवचेतन के सिद्धान्तों ने प्रतीक विद्या के प्रति विद्वानों और कलाकारों में नवीन रुची जाग्रत की इसी परिपेक्ष्य में 1886 में फ्रांस में प्रतीकवाद का उदय हुआ और वहां से प्रायः समस्त यूरोपीय कला एवं साहित्य को इसने प्रभावित किया। कवियों तथा कलाकारों के आन्तरिक जगत, कल्पनाओं और सम्वेदनाओं को पुनः प्रतिष्ठित करने के लिये इस प्रतीकवाद का उदय हुआ, जो यथार्थवाद और प्राकृतवाद के विरुद्ध आदर्शवाद का पोषक आन्दोलन था।²⁷

प्रतीकवाद में कल्पना व संकेतात्मकता को प्रमुख माना गया है, जिससे साहित्य व कला में सूक्ष्म भावनाओं का महत्त्व बढ़ा। लेकिन प्रतीकों के अभाव में सूक्ष्म भावों की अभिव्यक्ति मुश्किल थी। परिणाम स्वरूप इन सूक्ष्म भावनाओं को अभिव्यक्त करने के लिये प्रतीक-विधान का सहारा लिया गया। प्रतीकवादियों के अनुसार हमारी चेतना को वही प्रिय होता है जो मात्र संकेतात्मक द्वारा ही उसे जाग्रत कर दे। अतः सांकेतिक अभिव्यक्ति को ही इन्होंने प्रमुख माना। इस प्रकार रहस्यमयी आभा से पूरीत भावनाओं की सांकेतिक अस्पष्ट अभिव्यक्ति को प्रतीकवाद में सर्वोपरि स्थान प्राप्त हुआ।²⁸

प्रतीकवाद के समर्थक कवि एवं कलाकारों ने अपनी सृजनात्मक शक्तियों की अभिव्यक्ति के लिये प्रतीक-विधान की अनिवार्यता को सिद्ध करते हुए जटिल सम्वेदनाओं को मूर्त रूप देना कला का मुख्य प्रयोजन माना तथा किसी भी कलाकृति में निम्नलिखित पाँच तत्त्वों को अपेक्षित माना यह थे (1) प्रतीकात्मकता (2) भावात्मकता (3) संश्लेषणात्मकता (4) विषयपरकता (5) अलंकरणतात्मकता।²⁹

इस प्रकार प्रतीकों द्वारा सूक्ष्म अर्थ की व्यंजना, सूक्ष्म अनुभूतियों की मार्मिक तथा ध्वन्यात्मक पद्धति द्वारा अभिव्यक्ति तथा रहस्यात्मकता इस प्रतीकवादी आन्दोलन की प्रमुख विशेषताएँ रहीं,

जिन्हें आधार मानकर प्रतीकवादी, कलाकारों ने कला – सृजन किया।

19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध की समस्त यूरोपीय कला एवं साहित्य इसी प्रकार की रहस्यात्मकता से ओत-प्रोत रहे इसी समय से अनेक कलाकारों ने सार्वभौमिक प्रतीकों को व्यक्तिगत दायरे में बाँधकर उन्हें स्वरचित प्रतीकों के रूप में परिवर्तित कर दिया व उन्हें नितान्त मौलिक बनाना प्रारम्भ कर दिया।

यदि भारतीय परिवेश में देखें तो ज्ञात होता है कि भारतीय सभ्यता के आरम्भ से ही कला और धर्म में सामाजिक तथा मानवीय मूल्यों को स्थिर कर लिया गया था, यहाँ विश्व के अंतरंग में व्याप्त लय को समन्वयात्मक प्रतीकों के द्वारा शुरू से ही अभिव्यक्ति दी जाती रही। इन प्रतीकाकृतियों द्वारा उच्च सांस्कृतिक स्तर पर मनुष्य की निर्णायिका शक्ति, मूल्यांकन के मापदण्ड, आदर्श की सूक्ष्मता एवं विचारों की सघनता आदि का भी परिचय मिलता है। यहाँ प्रतीकों का प्रयोग आदिमकाल से ही होता आ रहा जहाँ इन्हे प्रकृति के पीछे छिपी अदृश्य शक्ति को साक्षात् करने के लिये पशु तथा वनस्पति जगत के आकारों से सम्बद्ध किया गया। तत्पश्चात् वैदिक युगों में विराट तथा अज्ञेय को व्यक्त करने के लिये इन्हें कला तथा साहित्य में प्रयुक्त किया गया। इसी समय भारतीय ऋषियों ने भी प्रायः प्रतीकों के द्वारा संकेत रूप में अपनी ज्ञान यात्रा को स्थूल से सूक्ष्म की ओर गतिशील किया।³⁰

इसके उपरान्त सभी युगों की भारतीय कलाओं में धर्म-दर्शन तथा संस्कृति स्पष्ट रूप से व्यक्त हुए, जिनकी अभिव्यक्ति के लिये विद्वानों, साहित्यकारों व कलाकारों ने प्रतीकों का आश्रय लिया। इन्हीं प्रतीकों को भारतीय कला की वर्णमाला कहा जाता है। यहाँ की विभिन्न विचारों, परम्पराओं, मान्यताओं और विश्वासों सभी को और प्रतीकों ने साकार रूप दिया है।³¹ ये कला-प्रतीक न केवल विचारों की अभिव्यक्ति करते हैं, वरन् शोभा, आरक्षा व मांगलिक भावनाओं की समृद्धि भी करते हैं, और जहाँ कहीं ये कला-प्रतीक किसी विशिष्ट विचार या भाव की सृष्टि के निमित्त नहीं होते वहा भी ये अपने स्वरूप का मांगलिक प्रभाव डालते ही हैं³² और दर्शक के शारीरिक एवं मानसिक सौन्दर्य-बोध का परिष्कार करते हैं। इस प्रकार भारतीय कला मात्र नेत्रों को प्रमुदित ही नहीं करती वरन् प्रतीकों के द्वारा आत्मा को संस्कार, परिष्कार व संतुष्टि भी प्रदान करती है।

भारतीय कला प्रतीक सृजन का प्रमुख आधार धार्मिक तथा सांस्कृतिक भावनाएँ रही हैं, यहाँ कलाकारों की बुद्धि, तपश्चर्या एवं परिमार्जित भावनाओं के आधार पर बनाए गए कला प्रतीक, प्रकृति व जीवन के हर क्षेत्र से चुने गए हैं, जैसे ध्वनि के क्षेत्र से, आकृतियों के क्षेत्र से, वनस्पतियों के क्षेत्र से, यहाँ तक कि पर्वतमालाओं और नदियों के क्षेत्र से भी और कहीं-2 तो इन्हें मिलाकर एक नया ही स्वरूप प्रदान कर दिया गया है।³³ जैसे- श्री गणेश की आकृति में मानव शरीर व हाथी का सिर, अर्द्धनारीश्वर, ब्रह्मा के चार मुख आदि। इन रूपों से जहाँ कलाकार की उच्च कल्पना शक्ति का स्पष्ट परिचय मिलता है, वहीं पारलौकिक चेतना को व्यक्त करने हेतु निर्मित यह प्रतीक नैतिक तथा सामाजिक मूल्यों के निर्माण तथा दार्शनिक विचारों का आधार लिये भी रहते हैं।

पूर्वी देशों में भारत के साथ ही चीन की सभ्यता भी महत्त्वपूर्ण रही है जिसने अन्य सभी देशों की सभ्यता पर पर्याप्त प्रभाव डाला है साथ ही कला की दृष्टि से भी यहाँ का व्यापक प्रभाव अन्य देशों पर दिखाई देता है। चीनी कला में भी भारतीय कला की भाँति प्रतीकों और बिम्बों द्वारा सार्वजनीन सर्वव्यापी सौन्दर्य और प्रकृति के गहन रूपों की अभिव्यक्ति मूल रूप से विद्यमान रही है। यहाँ धार्मिक क्षेत्र में मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ईश्वर तथा परमात्मा को प्राकृतिक उपादानों से सम्बद्ध कर उनके प्रतीक रूपों की सृष्टि हुई है। इसी क्रम में प्राचीन चीनी देवता ताओं-ताई आकाश की शक्ति के प्रतीक माने जाते थे³⁴ व उनकी

आराधना की जाती थी इसी प्रकार पर्वतो को भी यहाँ प्रारम्भ से ही ब्रह्माण्ड की धुरी का प्रतीक मान सम्मान दिया जाता रहा है। पशु आकृतियों को भी आध्यात्मिक भावनाओं से संयुक्त कर उन्हें धार्मिक प्रतीकों का रूप देने की प्रवृत्ति भारत की ही तरह चीन में भी देखी जाती है। ऐसी ही पशु – आकृतियों में यहाँ ड्रेगन व चीता प्रमुख रहे हैं, जिन्हें यहाँ की संस्कृति में क्रमशः आध्यात्मिक तथा भौतिक शक्तियों का प्रतीक माना गया है।³⁵ परवर्ती कालों में बौद्ध- विचारधारा के यहाँ प्रसारित होने के साथ ही भारतीय बौद्ध धर्म के प्रतीकों का प्रयोग भी यहाँ की कला में हुआ।³⁶

सन्दर्भ

1. भारतीय चित्रकला – गेराला वाचस्पति, पृष्ठ 30
2. कं आनन्द लाति इति कला – सीताराम कैंसरी – समीक्षा शास्त्र
3. भारतीय चित्रकला – गेराला वाचस्पति, पृष्ठ 28
4. वही,
5. वहीं,
6. सौन्दर्य बोध एवं ललित कलाएं – डॉ. सरोज भार्गव, पृष्ठ 36
7. भारतीय चित्रकला – गेराला वाचस्पति, पृष्ठ 12
8. A History of Easthetics - Gilbert and Kuha P.346.
9. History of aeasthetic by Bosanquete P. 178
10. Aristotle Meteph 1078 A
11. साहित्य और सौन्दर्य, डॉ. फतेह सिंह, पृष्ठ 104
12. History of aerthetic by Bosanquete P. 178
13. सौन्दर्य बोध एवं ललित कलाएं – डॉ. सरोज भार्गव, पृष्ठ 21
14. वहीं,
15. Aeasthetic Point of view - Beasrdsily M.C. 66
16. I bid & Kant P. 145
17. The Philosophy of Hegal - Stace W.T. P. 94
18. सौन्दर्य शास्त्र – एक तत्त्वमीमांसीय अध्ययन – लक्ष्मी सक्सेना, पृष्ठ 224
19. सौन्दर्य बोध एवं ललित कलाएं – डॉ. सरोज भार्गव, पृष्ठ 36
20. बिहारी रत्नाकर, पृष्ठ 432
21. सौन्दर्य शास्त्र और रस निष्पत्ति – अम्बाप्रसाद, पृष्ठ 56
22. कला मनोविज्ञान – डॉ. हरद्वारीलाल शर्मा, पृष्ठ 48
23. हिन्दी काव्य में प्रतीकवाद का विकास डॉ. वीरेन्द्र सिंह, पृष्ठ 1
24. Symbolism in Weast - Mirceas Eliade P. 146
25. कला – निबंध – डॉ. गिराज किशोर अग्रवाल पृष्ठ, 108
26. हिन्दी के प्रतीक नाटक– डॉ. रमेश गौतम, पृष्ठ 28
27. वही,
28. The Heritege of Symbolism - C.M. Vohra P. 27
29. काव्यशास्त्र, डॉ. भगीरथ मिश्र दृ पृष्ठ 255–256
30. भारतीय संस्कृति डॉ. नरेन्द्र मोहन, पृष्ठ 326
31. भरहुत तुलनीय बेनीमाधव बरुआ, बुक 3, पृष्ठ 39
32. भारतीय कला प्रतीक – डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव, पृष्ठ 14
33. भारतीय संस्कृति – डॉ. नरेन्द्र मोहन, पृष्ठ 336
34. कला निबंध, डॉ. गिराज किशोर अग्रवाल, पृष्ठ 111
35. वहीं,
36. वही पृष्ठ 112